जुलाई १९९७ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

अनाथपिंडिक

संघ दर्शन

उसकी आंखों में उत्सुकता का आकाश समाया हुआ था। कोशलदेश का धनकुबेर सुदत्त राजगृह में अपने ससुराल के विशाल भवन की ड्योढ़ी पर एक खंभे के सहारे खड़ा था। उसकी पत्नी का भाई और उसकी बहन का पति राज्यश्रेष्ठि बार-बार उससे अनुनय विनय कर रहा था कि आप बहुत थके हैं। कल सायंकाल ही इतनी लंबी यात्रा पूरी करके आए हैं और रात भर सुख से सो नहीं पाए। अतः भीतर शयनकक्ष में जा कर विश्राम करें। भिक्षु संघ सहित जब भगवान पधारेंगे तब हम आपको सूचित कर देंगे। तब उनकी अगवानी के लिए चले आइएगा। अभी भगवान के आने में कुछ देर है। तब तक विश्राम कर लेना ही उचित है। इससे यात्रा की थकान दूर हो जायगी।

सुदत्त ने मुस्करा कर सिर हिलाया और स्तंभ के सहारे वहीं खड़ा रहा। नगरश्रेष्ठि का संकेत पाकर द्वारपाल भीतर से एक चौकी ले आया। उस चौकी पर एक गद्दी रखी और उस पर शुभ्र श्वेत चादर बिछा दी। नगरश्रेष्ठि के आग्रह पर सुदत्त सेठ उस पर बैठ गया लेकिन उसकी अपलक नजर राजपथ पर ही लगी रही। दक्षिणी द्वार से नगर में प्रवेश करके भगवान इसी पथ से आने वाले हैं। प्रतीक्षा में बैठे हुए सुदत्त के स्मृतिपटल पर तथागत की निन्नादी कल्याणी वाणी तरंगित हो रही थी। बार-बार उसका चित्त और शरीर पुलक-रोमांच से भर उठता था। मन हृदयवस्तु पर जा टिकता तो उत्पाद-व्यय की अत्यंत सूक्ष्म उर्मियों के निरीक्षण में तल्लीन हो जाता था। इस अवस्था में कुछ समय बीतने पर उसे याद आता कि आज प्रातःकाल भगवान की वाणी सुनते-सुनते इस सूक्ष्म अनित्यबोध की अनुभूति निरुद्ध हो गयी थी और भले क्षण भर के लिए ही उसे इंद्रियातीत, तरंगातीत, ध्रुव परम सत्य का साक्षात्कार हुआ था। उस अमृत के रसास्वादन करने पर उसे इस कदर हल्कापन महसूस हुआ था मानो अनेक जन्मों के कर्म-संस्कारों का बहुत बड़ा बोझ उतर गया हो? ये लोग मुझे विश्राम करने को कहते हैं ताकि मेरी थकान दूर हो जाय। ये नहीं जानते कि उस परम शांति की क्षणिक अनुभूति के द्वारा श्रावस्ती से राजगृह की लंबी यात्रा की ही नहीं, बल्कि अनेक जन्मों की भवयात्रा की थकान दूर हो गयी है। मैं कितना हल्कापन महसूस कर रहा हूं। अहो! मैं कितना भाग्यशाली हूं। उस क्षणिक अनुभूति की मधुर स्मृति मानस-सरोवर पर बार-बार कितनी सुखद उर्मियां जगाती है।

उसे खूब याद है। एक पहर पहले की ही घटना थी वह। प्रत्यूष के पूर्व का समय था, आकाश में पूर्ण प्रकाश का आगमन भी नहीं हुआ था। धुँधले प्रकाश में उसने तथागत के दिव्य, भव्य रूप का दर्शन किया था। अब दिवस के संपूर्ण प्रकाश में वह पुनः उनके दर्शन करेगा। उस समय कुछ दूरी पर उसने कुछ धुँधली-सी मानवी आकृतियां टहलती हुई देखी थी। वह अवश्य ही भगवान का भिक्षु संघ था। उस समय वह उन सबों का दर्शन नहीं कर सका था। अब भगवान के साथ उनका भी आगमन हो रहा है। उनका भी दर्शन होगा।

भगवान के भिक्षु संघ के बारे में नगरश्रेष्ठि ने उसे जो कुछ बताया उसे स्मरण करते हुए उसका मन असीम श्रद्धा से भर उठा था। अहो, भगवान का भिक्षु संघ कितना स्तुत्य है, श्लाघ्य है, नमन्य है, प्रणम्य है, वरेण्य है! कितना वंदनीय है, अभिनंदनीय है! ऐसे आदर्श बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ का साक्षात दर्शन करने के लिए उसका मन उतावला हो रहा था। आंखों में असीम उत्सुकता समायी हुई थी।

उसे बहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। शीघ्र ही दूर राजपथ पर भगवान बुद्ध आते हुए दीख पड़े। उनके पीछे-पीछे उन्हीं के जैसे गेरुए वस्त्र पहने हुए भिक्षुओं की लंबी कतार आती हुई दीख पड़ी। नगरश्रेष्ठि ने उसे बताया था कि भगवान के भिक्षु किसी दाता के घर के सामने 'भिक्षाम् देहि' की आवाज नहीं लगाते। मधुकरी के लिए निकले हुए भिक्षु किसी घर के सामने मौन रह कर कुछ क्षणों के लिए रुकते हैं। गृहपति या गृहणी बाहर आ कर उनके भिक्षा-पात्र में भोजन डाल देते हैं। मन ही मन उसकी मंगल कामना कर वे आगे बढ़ जाते हैं। जब घर में से कोई दान देने वाला न निकलता तो उस घर के निवासियों की भी मंगल कामना करते हुए आगे बढ़ जाते हैं। पर ऐसा बहुत कम होता है। अक्सर गृहस्थ उनके आने की प्रतीक्षा करते रहते हैं ताकि ऐसे आदर्श संतों को भोजन दान देकर वे असीम पुण्यलाभी हों। वे किसी भी घर के सामने भीख पाने की इच्छा से नहीं खड़े होते बल्कि गृहपति और गृहस्वामिनी को दान के पुण्यलाभ का अवसर प्रदान करने के लिए रुकते हैं। इसकी तुलना में अन्य गृहत्यागी कैसे घर-घर भीख पाने की गुहार लगाते हैं। 'अम्बे! भोजन दो, माई! भोजन दो! तेरे बेटे जिएं!' 'बाबा, दान दो तेरा परिवार फले-फूले आदि आदि की टेर लगाते हैं। किसी घर से भीख न मिले तो उसे भरपूर कोसते हैं, खरी-खोटी सुनाते हैं। 'तू कंजूस है, मक्खीचूस है! तेरे पास इतना धन होने का किसी को क्या लाभ हुआ? अपनी संपदा का स्वय अकेला ही उपभोग करता है। तेरे कुल का संवर्धन कैसे होगा? तेरे धन की वृद्धि कैसे होगी? आदि आदि'। सेठ सुदत्त सोचता कि यदि ऐसा ही है तो इन दोनों प्रकार के गृहत्यागियों में कितना बड़ा अंतर है।

इस समय तो बुद्ध प्रमुख भिक्षु संघ नगरश्रेष्ठि के घर भोजन के लिए आमंत्रित है। अतः घर-घर गोचरी के लिए रुकने का प्रश्न ही नहीं है। सब के सब नपे-तुले कदमों से नगरश्रेष्ठि की हवेली की ओर बढ़ते चले आ रहे हैं। सभी नजर नीची किए हुए हैं। अन्य गृहत्यागी नगर में प्रवेश करते हैं तो कभी इधर, कभी उधर, कभी इस घर को, कभी उस घर को, कभी इस पुरुष को, कभी उस नारी को ताकते-झांकते हुए चलते हैं। भगवान के भिक्षु भगवान की ही भांति सामने दो कदम या चार कदम की धरती तक अपनी दृष्टि

सीमित रखते हुए चल रहे हैं। एक भी भिक्षु नजर उठा कर इधर-उधर नहीं देखता। वे परस्पर बात-चीत भी नहीं करते। सभी मौन हैं, सभी निःशब्द हैं।

कोई-कोई गृहत्यागी भिक्षाटन पर निकलते हैं तो नाचते-गाते हुए, ढोल-मजीरे-करताल अथवा ताली बजाते हुए निकलते हैं। कोई-कोई गृहत्यागी यों गाते-बजाते नहीं तो परस्पर उच्च स्वर में बात-चीत करते हुए, तर्क-वितर्क ,वाद-विवाद, बहस-मुबाहस करते हुए, परनिंदा या आत्म-प्रशंसा करते हुए, गली-मोहल्ले में कोलाहल भरते हुए चलते हैं। कोई-कोई गृहत्यागी, महंत, मठाधीश अपनी शिष्य-मंडली के साथ खूब सज-धज कर, सुसज्जित पालकी में बैठ कर निकलते हैं। लंबे चिकने बालों को फूलों से अथवा अन्य अलंकारों से सजा-सँवार कर, आंखों में अंजन, कानों में कुंडल, गले में माला, अंगुलियों में रत्नखचित स्वर्णमुद्राएं तथा अन्यान्य सुंदर बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर निकलते हैं। कोई-कोई गृहत्यागी फटे मैले बेतरतीब वस्त्र पहने हुए निकलते हैं। कोई शरीर पर राख लगाए हुए, जटाओं में और दाढ़ी-मूंछ में धूल लपेटे हुए निकलते हैं। कोई-कोई कमर में केवल एक लंगोटी लगा कर निकलते हैं और कोई-कोई निपट नग्न। उन्हें देख कर प्रौढ़ गृहणियां, नवयुवतियां और किशोरियां सिर नीचा कर लेती हैं। कोई शरमा-सकुचा कर घर के भीतर चली जाती हैं। उन गृहत्यागियों की तुलना में ये भिक्षु शालीनता पूर्वक शरीर को पूरी तरह ढक कर चले आ रहे हैं। इनके चीवर कीमती नहीं हैं, रूखे हैं, पर स्वच्छ हैं। जहां फटे हैं वहां सिले हुए हैं। सबके सब सौम्यता, शिष्टता और शालीनता की प्रतिमूर्तियां हैं।

बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ की यह कतार नगरश्रेष्ठि के घर के समीप आती जा रही है। सबके चेहरों पर नवोदित सूर्य के प्रकाश की किरणें पड़ रही हैं। भगवान का तो कहना ही क्या, सभी ध्यानलाभी भिक्षुओं के चेहरे अंतर्तप से दीप्त हैं। सभी ओजस्वी, सभी तेजस्वी, सभी शांत, सभी दांत, सभी संयत, सभी विनयनत।

अनाथपिंडिक श्रेष्ठि सुदत्त प्रसिद्ध दानी था। उसने भिन्न-भिन्न तीर्थों के, संप्रदायों के, संगठनों के, आश्रमों के गृहत्यागियों को अपनी दानशाला में आते हुए देखा है परंतु ऐसे पंक्तिवद्ध, अनुशासनवद्ध, संयमवद्ध, नियमवद्ध त्यागी, तपस्वी भिक्षुओं का संघ उसने अपने जीवन में पहली बार देखा। देख कर उसका हृदय गदगद हो गया। वह अतुल अपरिमित श्रद्धाभिभूत होकर नतमस्तक हो गया। इस अनुपम संघ-दर्शन से उसका रोम-रोम पुलक-रोमांच से भर उठा। उसके हाथ स्वतः जुड़ गए। मुख से 'साधु! साधु! साधु!' की मंगल वाणी फूट पड़ी। उसकी आंखों से अनायास अविरल अश्रुधारा बह निकली। कंठ अवरुद्ध हो गया। कुछ देर तक भावविभोर होकर वहीं खड़ा रह गया।

उसकी सुध-बुध तब लौटी जब कतारबद्ध भिक्षु संघ के आगे-आगे चलते हुए तथागत राज्यश्रेष्ठि की ड्योढ़ी तक आ पहुँचे। नगरश्रेष्ठि और उसकी भार्या तथा अन्य सभी स्वजन-परिजनों ने बाहर आकर उनका स्वागत किया, उन्हें प्रणाम किया। श्रेष्ठि सुदत्त ने भी उनके प्रति स्वागत के शब्द कहे और उन्हें पंचांग प्रणाम किया।

भगवान अपने भिक्षु संघ सहित ड्योढ़ी के भीतर हवेली के सामने विशाल प्रांगण में आ गए। दोनों श्रेष्ठियों की भगवान से कुशल-वार्ता हुई। उन्होंने तथा अन्य परिजनों ने बुद्ध सहित भिक्षुओं के पांव धोये और गीले पांवों को शुभ्र श्वेत पाद-वस्त्रों से पोंछा। भगवान भोजन के लिए बिछे हुए प्रमुख आसन पर बैठ गए। भिक्षु भी अपने-अपने आसन पर जा बैठे।

भोजन परोसे जाने का समय आया। परिवार के सभी लोग खिचड़ी, भात तथा नाना प्रकार के षटरस व्यंजनों तथा विभिन्न मिष्ठान्नों से भरे हुए पात्र लिए खड़े थे। नगर सेठ अपने हाथों से भोजन परोस रहा था। उसके आग्रह पर सुदत्त सेठ ने भी कुछ व्यंजन व मिष्ठान्न परोसे।

भोजन आरंभ हुआ। सुदत्त सेठ भगवान के सम्मुख एक नीचे आसन पर बैठ गया। उसने देखा सभी भिक्षुओं की नजर नीची है। केवल भोजन-पात्र तक सीमित है। भोजन करता हुआ कोई भी भिक्षु न किसी से बात करता है, न ही खाते हुए सुबुर-सुबुर जैसी आवाज करता है, न हाथ, न होठ, न पात्र चाट-चाट कर खाता है। पहला ग्रास निगल लेने के पहले दूसरा ग्रास मुँह में नहीं लेता। अत्यंत शालीनतापूर्वक भोजन ग्रहण करता है। भोजन कर लेने के बाद भगवान उठे, अपना भिक्षा-पात्र स्वयं धोया और पुनः अपने आसन पर आ बैठे। उनके बाद एक-एक करके सभी भिक्षु उठे, सब ने अपने-अपने पात्र धोये और अपने-अपने स्थान पर पुनः आ बैठे। भोजन का सारा कार्यक्रम जिस नीरव, सौम्य और शांतिपूर्वक ढंग से संपन्न हुआ, उसे देख कर सुदत्त सेठ विस्मय-विभोर हो उठा। साधकों का ऐसा अनुशासित संघ उसने पहली बार देखा, जिसे देख कर उसके हृदय में असीम श्रद्धा-भक्ति उमड़ पड़ी।

कुछ देर पश्चात भगवान ने भोजन-दान का पुण्यानुमोदन किया और गृहस्थ-धर्म समझाते हुए एक अत्यंत हृदय-स्पर्शी धर्मदेशना दी। सभी उपस्थित गृहस्थों ने उसे अतीव श्रद्धा-भक्तिपूर्वक श्रवण किया और भगवान तथा भिक्षु संघ की वंदना की। इसके पश्चात भगवान उठे और जैसे आए थे, वैसे ही नपे-तुले कदमों से उन्होंने शीतवन की ओर प्रस्थान किया। भिक्षु संघ ने उसी प्रकार अनुशासित ढंग से उनका अनुगमन किया।

सुदत्त सेठ अपने विश्राम कक्ष में आकर कुछ देर आंख बंद किए बैठा रहा। अनुपम संघ-दर्शन से उसका रोम-रोम रोमांचित हो रहा था। हृदय पुलकित हो रहा था। धन्य है यह आदर्श भिक्षु संघ, जिसे ऐसे अद्वितीय धर्म-शास्ता मिले हैं। यों चिंतन करते-करते वह स्वयं भी धन्यता के उदात्त भावों से भर उठा। अनायास उसके मुँह से साधुकार के मंगल शब्द फूट पड़े – साधु! साधु! साधु!

मंगल मित्र,
सत्यनारायण गोयन्का

संवेदना और चित्त के विकार

– मुनिश्री भुवनचंद्र

विपश्यना का साधक अंतर्मुख होकर, अपने मन को शरीर की सीमा के भीतर ही रखता हुआ, सिर से पांव तक यात्रा करता है और हर अंग में हो रही भांति-भांति की संवेदनाओं का तटस्थ,

जागृत, सतत निरीक्षण करता है। प्रथमतः उत्सुकतावश और प्रयोग के तौर पर यह अभ्यास करता है। आगे जाकर अपने चित्त में होने वाले ईष्ट एवं मौलिक परिवर्तनों को स्वयं महसूस करता है तो श्रद्धा जागती है। श्रद्धा के बल पर अभ्यास और आगे बढ़ता है। अंततोगत्वा यह परिवर्तन क्यों और कैसे हुआ, यह खुद ही अपनी अनुभूति द्वारा जान लेता है।

किंतु प्रारंभ में, साधना करते हुए भी, साधक के मन में प्रश्न उठता है कि संवेदनाओं के निरीक्षण-पृथक्करण से मन के विकार कैसे निकलेंगे? अन्य लोग भी उसके सामने यह प्रश्न रख देते हैं। कल्याणमित्र श्री गोयन्काजी अपने प्रवचनों में इसका समाधान करते ही हैं। इसी बात को हम यहां समझने का प्रयत्न करेंगे।

संवेदनाओं का ज्ञान करना, हमारे अपने अचेतन चित्त के क्षेत्र में उतरने का अभ्यासक्रम है। हमारा जागृत चेतन चित्त जिन संवेदनाओं को महसूस नहीं कर पाता, उन सब को हमारा अचेतन चित्त प्रतिक्षण महसूस करता जाता है और साथ-साथ उनके प्रति प्रिय-अप्रिय का भाव जगा कर प्रतिक्रिया भी किये जाता है। प्रतिक्रिया या तो राग की या फिर द्वेष की ही होती है। ये राग-द्वेष जब जागृत(चेतन) चित्त में प्रकट होते हैं तब हमें और आसपास के लोगों को पता चलता है कि हमने राग-द्वेष की प्रतिक्रिया की। राग-द्वेष का उद्भव प्रथमतः अचेतन में होता है और संवेदनाओं की अनुभूति को लेकर ही होता है।

विपश्यना हमें सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदना और उनके परिणामरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म राग-द्वेषादि विकारों तक ले जाती है। दूसरे शब्दों में हमारे जागृत चित्त को भी इन अचेतन, सूक्ष्म क्रियाओं को जानने लायक बना देती है।

अचेतन में जागे रागादि विकार चेतन चित्त पर उतर आते हैं तब तो इनका बल बहुत बढ़ गया होता है। फलस्वरूप वाणी और काया भी उनकी लपेट में आ जाती है। हम कुछ भी कर या बोल देते हैं। कभी-कभी चेतन चित्त को किसी तरह समझा-बुझा कर शांत कर भी देते हैं तो ऐसे समय ये राग-द्वेष वस्तुतः खत्म नहीं हुए होते बल्कि उनको दबा देने से वापस अचेतन चित्त के पैंदे में जाकर बैठ जाते हैं। ये फिर कभी भी सिर उठा सकते हैं।

विकारों को जहां खुली छूट देनी विनाशकारी है, वहां उनको दबाना भी कम अनर्थकारी नहीं है। कोई-कोई साधना-प्रणाली इन विकारों को दमन करना सिखाती है, तो कोई प्रणाली उनका रूपांतरण करना सिखाती है। कोई तो साधना की ओट में विकारों को बेरोकटोक छूट देने तक भी जाते हैं।

विपश्यना विकारों को दबाना नहीं सिखाती। छूट देना भी नहीं कहती। पलायन या रूपांतरण भी नहीं कराती। यह तो विकारों का सामना करना सिखाती है। राग-द्वेष के अनेक रूपों को टुकड़े कर-कर के देखना और उनकी जड़ें सदा के लिए उखाड़ देना – यही विपश्यना का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को सिद्ध करने में संवेदनाओं का उपयोग एक माध्यम के रूप में होता है।

विकार अरूपी, अमूर्त हैं। उनको कैसे देखें? उनका पृथक्करण कैसे करें? इस गुत्थी को सुलझाना है। हर एक विकार (चिंता, भय, वासना, इच्छा इत्यादि) के साथ ही साथ शरीर में उससे संबंधित जीव-रासायनिक क्रिया होती है। इस शारीरिक परिवर्तन को हम भीतर से सतत महसूस करते रहते हैं। अजागृत(अचेतन) मन लगातार इसको जानता रहता है और प्रतिक्रिया भी करता जाता है। संगृहीत संस्कारों के मुताबिक हर एक संवेदना का, घटना का, वस्तु का और व्यक्ति का मूल्यांकन और फिर अंधी प्रतिक्रिया करना – यही अजागृत चित्त का काम है। जैसे – किसी व्यक्ति को देख कर गुस्सा आया, शरीर की ग्रंथियां सक्रिय हुईं, हार्मोंस प्रवाहित हुए, हमारा शरीर गरम हो गया, कांपने लगा, हाथ उठ गया या कुछ बोल दिया।

मन में विकार, शरीर में हलचल – ये दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ऐसा नहीं है कि हिंसा, झगड़ा, भय जैसे मोटे-मोटे विकारों के वक्त ही शारीरिक क्रिया होती है। वस्तुतः छोटे-मोटे सभी विकार, विकल्प, संकल्प के समय शरीर के स्तर पर हलचल होती ही है। इसको अजागृत मन 'फील' करता है, जागृत मन को तो बहुत देर के बाद मालूम होता है।

विपश्यना का साधक शरीर के स्तर पर जो भी घटित होता है – कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो – चाहे उसे जान लेने की दक्षता सिद्ध करता है। सिर से पांव तक यूं ही चक्कर नहीं काट रहे। हमारे जागृत मन को इन अचेतन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के प्रति भी सचेत रहना सिखा रहे हैं। क्या हो रहा है, इसे जानना और समझना है। फिर जानकारी और समझदारी के आधार पर प्रतिक्रिया की आदत से बाहर आना है।

ये संवेदनाएं विकारों का ही मूर्त रूप हैं। विकार अमूर्त, अदृश्य हैं, मगर उनकी वजह से जन्म लेने वाली संवेदनाएं मूर्त, स्थूल, आकलनीय हैं। उन्हें देखना यानी उनके प्रति सावधान होना रहना अशक्य नहीं है। साधक विकारों को दबाता नहीं, उन्हें संवेदना के रूप में शरीर पर प्रकट होने देता है। दूसरी ओर, उन्हें बाह्य जीवन में व्यवहृत भी नहीं होने देता। शील-सदाचार की सीमा बरकरार रखता है। वह इन विकारों का ही संवेदनाओं (सेंसेशन्स) के जरिये दर्शन करना शुरू करता है। न छूट, न पलायन, न दमन, न रूपांतरण। विकारों का सामना ही करता है। वह भीतर से तटस्थ, निर्लिप्त रहने का प्रयास करता है। यही 'समता' है। इस 'दर्शन' से तत्कालीन जागे हुए विकार को बढ़ावा नहीं मिलता। इतना ही नहीं, क्रमशः पुराने संस्कार भी क्षीण होते चले जाते हैं। लोग जिसको बदलना अशक्य मानते हैं आदमी का वह 'स्वभाव' भी इस अभ्यास से बदलता जाता है।

आगे बढ़ा हुआ साधक सीधे मन का –अमूर्त विकारों का भी निरीक्षण करता है। उस समय भी संवेदनाओं का ज्ञान तो संलग्न रहता ही है। जब तक मन और शरीर जुड़े हुए हैं, तब तक संवेदनाएं रहेंगी। करना यह है कि इन संवेदनाओं की वजह से हम राग न जगा लें, द्वेष न जगा लें। संवेदनाओं को जानें अवश्य पर इनको महसूस करते समय तटस्थ, अलिप्त रह जायँ – यही सच्ची समता है। इसी से नये कर्म बँधते नहीं और पुरानों की निर्जरा होती

जाती है। संवेदनाओं से बेखबर रहने पर जो समता या तटस्थता होगी, वह मूर्च्छित अवस्था की, बेहोशी की समता है। अंध, बधिर की तरह हमारे भीतर क्या हो रहा है उससे अनजान, मूढ़, बेहोश बन कर अंधकार में पड़े नहीं रहना है। ऐसी अचेत, अज्ञान अवस्था में राग-द्वेष की अनुभूति ऊपरी स्तर पर दिखाई न भी देती हो, परंतु वह एनेस्थेसिया की-सी अवस्था है, जिसमें पीड़ा तो होती है पर पीड़ा का भान नहीं होता।

साधक स्थूल व सूक्ष्म संवेदनाओं के प्रति तटस्थ कैसे रह सकता है? शरीर और मन के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान ही समता रखने में सहायक होता है। शरीर और शरीर में होने वाली ये संवेदनाएं अनित्य हैं। तुरंत बदल जाती हैं। ये 'मेरे आधीन' नहीं, ये 'मेरा स्वरूप' नहीं, ये 'मेरी' नहीं –इस सत्य का बोध जागृत रहता है तो समता रखनी आसान हो जाती है। पुराने संस्कार संवेदना के साथ चित्त-शरीर पर प्रकट होते जायेंगे, साधक समता से देखता चला जायगा तो उनकी निर्जरा होती जायगी। यही विपश्यना यानी "विशेष रूप से देखना" है। सब का मंगल हो!